सन्त-मत में साधना का स्वरूप

लेखक
प्रताप सिंह चौहान
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
युवराजदत्त कालेज
लखीमपुर

प्रकाशक
प्रत्यूप-प्रकाशन
रामबाग, कानपुर

प्रकाशक—प्रत्यय प्रकाशन, रामबाग कानपुर।

लेखक—प्रो० प्रताप सिंह चौहान

मूल्य—३.५० न० पै०—साढ़े तीन रुपये

प्रकाशन काल—दीपावली सात नवम्बर १९६१ ई०

आवरण चित्रकार—बी० के० ड० कानपुर।

आवरण मुद्रक—जाब प्रेस नि० कानपुर।

जिल्दसाज—रफीक अहमद एण्ड सन्स कानपुर।

मुद्रक—वाणी मुद्रण कार्यालय कानपुर।

ऋषिकल्प आदरणीय ठा० जयदेव सिंह

को

जिनके व्यक्तित्व म साहित्य, साधना और अध्यात्म
की त्रिवेणी प्राप्त
होती है

सादर, सभक्ति

समर्पित

लेखक



ठा० जयदेव सिंह जी

विषय-सूची



कार को जन्म देने वाली बुद्धि है और वह मस्तिष्क वासिनी है। अतः मस्तिष्क अथवा शिर सभी प्रकार के अहङ्कारों का मूल है उद्गम स्थान है। अतएव उन्होंने शिर के प्रतीक द्वारा अहङ्कार को अभिव्यक्त किया है। बिना अहङ्कार की निवृत्ति के कोई भी इस पथ पर नहीं चल सकता। इस दोहे का यही भाव है।

कबीरदास के अतिरिक्त महात्मा रैदास ने भी नाम अथवा शब्द साधना को अहङ्कार तथा सभी माया विघ्नों के शमन करने में सबसे अधिक प्रभावशाली माना है। उनका तो यह दृढ़ विश्वास है कि नाम साधक के पास अहङ्कार की गति ही नहीं हो सकती। निम्न लिखित पद में उन्होंने सर्वतोमुखी 'मैं' की हार स्वीकार की है। पद कुछ बड़ा है फिर भी मैं उसको उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। पद इस प्रकार है—

अब मैं हारयो रे भाई ॥
थकित भयो सब हाल चाल तें, लोक न वेद बड़ाई।
थकित भयो गायन अरु नाचन, थाकी सेवा पूजा।
काम क्रोध ते देह थकित भई, कहौं कहा लौं दूजा।
राम जनहु ना भगत कहाऊँ, चरन पखारू न देवा।
जोइ जाइ करौं उलटि मोहिं बाँधे ताते निकट न भेवा।
पहले ज्ञान का किया चाँदना, पाछे दिया बुझाई।
सुन्न सहज में दोऊ त्यागे राम न कहूँ दुखदाई।
दूर बसे षट कर्म सकल अरु, दूरहु कीन्हें सेऊ।
ज्ञान ध्यान दूर दोउ कीन्हे दूरिउ छोड़े तेऊ।
पाँचों थकित भये हैं जहँ तहँ जहाँ तहाँ थिति पाई।
जा कारन मैं दौरो फिरतो, सो अब घट में आई।
पाँचो मेरी सखी सहेली, तिन निधि दई दिखाई।
अब मन फूलि भयो जग महिया, आप उलटि समाई।

चलत चलत मेरो निज मन थाक्यो अब मोरा चलो न जाई।
साईं सहज मिला सोई सनमुख कह रदास बडाई।
रदास जी की बानी पृष्ठ २ ३

उपयुक्त पद में मन की गति अथवा अहं की व्याप्ति के प्राय सपूर्ण प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है। सम्पूर्ण हान चाल अर्थात मैं तू मे बिखरे हुए ससार से मन उनका विरत हो गया है। लौकिक तथा पारलौकिक यश की कामना नही रही, क्योंकि ये दोनो द्वन्द्व हैं और जीव को माया बन्धन में बाधते हैं। अग्रिम पक्तियों में यदि माया विग्रह का विस्तार करता हुआ कहता है कि मैं अब नाम अथवा शब्द की साधना की सिद्धि के पश्चात गायन और नृत्य अर्थात विलास और ऐश्वर्य के जीवन से थक गया हू। और अब मैं वहा तक कहू मरा मन सेवा और पूजा में भी नहीं लगता और मानव के सबसे बड़े शत्रुओं काम और क्रोध से भी अब मुक्ति मिल गई है। मैं अब राम का नाम भी लेता तथा भक्त कहलाने की भी अभिलाषा नही रही। न तो मैं अब चरण प्रक्षालन करता हू अर्थात अब शारीरिक शुद्धि का भी ध्यान नही रहा और न किसी देवता की पूजा ही करता हू। सन्त रदास का मत है कि व्यक्ति जो भी कर्म करता है उसका अभिमान उसे माया बन्धन में बाध लेता है। अतएव भवन उसके निकट जाने को तयार नहीं। उपयुक्त कथन द्वारा महात्मा रदास ने इस सत्य की प्रतिष्ठा की है कि अहकार (Ego) की जाति इतनी सूक्ष्म है कि किसी भी कार्य के माध्यम द्वारा वह माया बन्धन में किस समय बाध लेगी, कहा नही जा सकता। किन्तु नाम की प्राप्ति के पश्चात माया का सारा प्रपच छिन्न भिन्न हो गया है। मन अपने सब सकल्प विकल्प को छोड़ कर स्थिर हो गया है। जिस परमानन्द की प्राप्ति के हेतु मन इधर उधर भागा भागा फिरता था वह हृदय के अन्तर्गत ही प्राप्त हो गया है, तो फिर वह अब कहा जाय मन से अहकार के पूर्ण निरसन का सन्त मत के इस अजपा के अतिरिक्त अन्य कोई सरल मार्ग हो

सकता है, मेरी समझ तो नहीं आता। "नाम" का यह नाम आध्यात्मिक साधना की चरम प्राप्ति है। इसके द्वारा अहंकार रूपी वासुकि नाग का फण सहज ही कुचला जा सकता है प्रायः सभी सन्तों की बानियों में "नाम" महात्म्य के इस प्रकार के उद्‌गार प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं।

अस्तु पूर्ण अहंकार शून्य होकर ही इस नाम अथवा शब्द की प्राप्ति हो सकती है और इस नाम अथवा शब्द की प्राप्ति ही मुक्ति की प्राप्ति है। बिना इसके छुटकारा नहीं। सन्तों ने बड़े दृढ़ विश्वास के साथ इस तथ्य की घोषणा की है कि मोक्ष लाभ के लिए शब्द साधना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में महात्मा जग जीवन दास की बानी के शब्द ३१ की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> बिन यहि नाम तरे कोउ नाहीं।
> देखहु समुझि बूझि मन माहीं।
> तीरथ व्रत बहु भाँति कराय।
> जो पै अन्तर दृष्टि न पाय। २।
> जल तन धोय मलिनता धाय।
> मनु यहु नाम तें निर्मल होय। ३।
> भूल करि पट कर्म अचार।
> यांते तें भूला संसार। ४।
> सहज डोरि जो राखि लाय।
> अन्तर भजि तब भक्त कहाय। ५।
>
> जगजीवन साहब की बानी श० ३१

अर्थात बिना उस नाम की साधना के कोई मुक्त नहीं हो सकता। इसको अपने मन में खूब समझ कर देख लो। तीर्थयात्रा अनेक प्रकार के व्रत तथा जल द्वारा शरीर का प्रक्षालन केवल बाह्य शुद्धि ही कर सकता है। अन्तःकरण अर्थात वासनाओं की आसक्ति का शुद्धि

तो नाम साधना द्वारा मन की अंतर्मुखी वृत्ति द्वारा ही सम्भव हो सकती है बिना अभ्यंतर की शुद्धि के बाह्य शुद्धि का कोई महत्व नहीं। बाह्य कर्मकाण्ड तो रूढ होकर आसक्ति का कारण बनता है, और यह आसक्ति ही तो माया है। इन पंक्तियों में भी नाम के अंतर्मुखी जप पर ही संकेत द्वारा प्रकाश दिया गया है।

मुख्य इस नाम अथवा शब्द की मान्यता की महत्ता के विषय में केवल एक ही बात और कहनी है। सन्तों द्वारा स्वीकृत यह नाम अथवा शब्द की साधना प्राय सभी साधना पद्धतियों से अत्यन्त सरल तो है ही, इसके अतिरिक्त इसी के द्वारा चरम आध्यात्मिक उपलब्धि भी होती है। सन्त दरिया ने बड़ी दृढ़ता और आत्म विश्वास के साथ इस बात की उद्घोषणा की है। निश्चय ही उनकी यह उद्घोषणा अनुभव की ठोस भूमि पर अधिष्ठित है। सन्त मत के सन्तों ने जो भी कुछ कहा है वह सब उनकी स्वानुभूति का ही परिणाम है। क्योंकि वे बहुधा पढ़े लिखे न थे। इसलिये उनकी अनुभूतियों में अतिरंजना नहीं है। नमक मिर्च लगाकर अपने अनुभवों को अतिशयोक्ति पूर्ण बनाने की कला उन्हें नहीं आती थी। कबीर ने तो शास्त्र वेत्ताओं को इनके पुस्तकीय ज्ञान के लिये इसी हेतु बड़ी फटकार बताई है। वे कहते हैं कि 'तू कहता कागद की लेखी मैं कहता आँखों की देखी। अर्थात प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। महान सन्त दरिया ने इस नाम को सम्पूर्ण आध्यात्मिक उपलब्धियों में सर्वश्रेष्ठ बतलाते हुए अपनी बानी 'ब्रह्म परचे का अंग' में कहा है कि—

मन मेरू से बावड त्रिकुटी लग ओंकार।
जन दरिया इनके परे, ररंकार निरधार। १०।
गन दरिया आकाश लग, आकार का राज।
महाशून्य जिसके परे, ररंकार महराज। १८।

ओउम अथवा ॐ कार की साधना अथवा ॐ की साधना द्वारा

आध्यात्मिक उपलब्धि प्राय अध्यात्म जगत म सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि के रूप में मानी गई है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तो इस 'ॐ' के जप का बहुत ही व्यापक प्रचार किया है। गीता म भी 'ॐ' के जप एव साधना की महनीयता उन्मुक्त कण्ठ से स्वीकार की गई है। स्वामी शङ्कराचार्य ने भी 'ॐ' के जप के प्रचार म जो तत्परता दिखाई है, वह भी सब विदित ही है। किन्तु सन्तो ने इस 'ॐ' से भी परे नाम का अधिष्ठान खोज निकाला है। दरिया साहब के उपर्युक्त दोनो दोहे सन्तो की इस मान्यता के प्रतिनिधि के रूप म रखे जा सकते हैं। अपने प्रथम दोहे म उन्होने 'ओकार का स्थान त्रिकुटी म स्वीकार किया है। 'त्रिकुटी' भौंहो से समान दूरी पर थोडा हटकर भाल पर वह स्थान है जहाँ इडा पिंगला और सुषुम्ना नाडियाँ आकर मिलती हैं। सन्तो ने इस त्रिकुटी की भी महिमा का बडा गान किया है। यही पर उन्होने आज्ञा चक्र की अवस्थिति मानी है। यही से प्रकाश भरता है, यही तीसरा नेत्र है। इसी के द्वारा साधक ज्ञान दृष्टि सम्पन्न माना जाता है। ध्यानावस्था म साधक अपने इसी नेत्र द्वारा विश्व ब्रह्माण्ड म बिखरी हुई गुप्त वस्तुओ को देख सकता है। यही पर 'ॐ कार भी है। अर्थात इसकी सिद्धि ओकार की सिद्धि है। किन्तु सन्त दरिया ने इसके भी ऊपर 'ररकार' अथवा नाम को माना है। वे कहते है वह निरधार' है अर्थात उसे किसी की अपेक्षा नही है। वेदान्त ने ब्रह्म की प्रतिष्ठा करते हुए स्वीकार किया है कि सर्वाधार निराधार होता है और ब्रह्म ही सर्वाधार है इसलिए वह निराधार है। सन्त दरिया ने भी इसी प्रकार 'ररकार को निरधार कहकर उसके सर्वाधार होने की स्वीकृति दी है। अस्तु वेदान्तियो का जो ब्रह्म है वही सन्तो का नाम अथवा शब्द अथवा राम अथवा 'ररकार' है। दूसरे दोहे म उन्होने उसकी अवस्थिति महदाकाश, महसुन्न अर्थात महाशून्य के भी परे मानी है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि वह महतो

महीयान है।

मेरी उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि सन्तों द्वारा स्वीकृत नाम की मान्यता भक्तों द्वारा स्वीकृत नाम की मान्यता से सर्वथा भिन्न है। यद्यपि कहीं कहीं महात्मा सूरदास ने भी अपने एकाध पद में सन्तों के समान ही शब्द की चर्चा की है। सम्भव है गोस्वामी तुलसीदासजी तथा महात्मा सूरदास जी ने नाम अथवा शब्द की महत्ता सन्तों के समान ही स्वीकार की हो। किन्तु भक्त समाज ने निश्चित रूप में इस रूप में स्वीकार नहीं किया। यह मेरा दृढ़ निश्चय है। सन्त मत की इस 'नाम साधना' के द्वारा अहं का शमन एवं पूर्ण निरसन जिस प्रवेग के साथ होता है वैसा अन्य किसी साधना द्वारा नहीं। इसलिए सन्तों ने इसे 'विहंगम' मार्ग कहा है। इसके अतिरिक्त यह भी सिद्ध होता है कि नाम की यह साधना ॐ कार की साधना से भी बढ़कर है जो अति दीर्घ काल से आध्यात्मिक जगत में स्वीकृत चली आ रही है। इस विवेचन से एक अन्य तथ्य की भी पुष्टि होती है कि योग अथवा साधना के क्षेत्र में सन्तों की यह 'शब्द साधना' एक नूतन आविष्कार है।

सन्त मत की सुरति शब्द साधना और पश्चिम द्वार

'सन्तो की सुरति शब्द साधना को लेकर हिन्दी के विद्वान आलोचकों तथा अन्वेषकों में विरोधी मतों की अपूर्व प्रदर्शनी देखने को मिलती है। सन्तों के ऊपर इधर पन्द्रह बीस वर्षों से अनवरत अनुशीलन कार्य हो रहा है। कार्य परिणाम में जितना अधिक हुआ है, उससे कहीं अधिक उनकी साधना का मत संदिग्ध और भ्रामक हो गया है। इस भ्रम का एक मात्र कारण आलोचकों और अनुशीलकों की एतद् विषयक बौद्धिक उपपत्तियां रही हैं। अनुमान के सहारे सन्तों की साधना के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निर्णय देना केवल अनधिकार चेष्टा ही नहीं अक्षम्य दुस्साहस भी है। आत्म तत्व का साक्षात्कार यदि बौद्धिक धरातल पर सम्भव होता तो सभी पाश्चात्य दार्शनिक, ब्रह्म वेत्ताओं की श्रेणी में परिगणित होते। इंगलण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक श्री बर्टेंड रसेल ने अस्सी वर्ष की आयु में तीसरा विवाह किया है और मनीषी दार्शनिक तथा साहित्यकार श्री ऐल्डस हक्सले (Elds Huxley) ने अभी तक के कौमार्य जीवन का संयम तोड़ कर ६१ वर्ष की आयु में अचानक एक इटालियन वेलावादिका के साथ विवाह कर लिया है। यौन आकर्षण के मूल में अहं (Ego) की सगुण प्रतिष्ठा है। और आध्यात्मिक साधनाओं की पहली शर्त है कि आप निरभिमान तथा पूर्णतया विनम्र हों। यमेवैष वृणुते तेन लभ्य स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् कठोपनिषत् १ २ २३ अर्थात् यह आत्मा न तो वेदों के प्रवचन से न मेधा से और न बहुत

सुनने से प्राप्त होता है। यह तो स्वय जिसको वरण करता है, उसी को यह प्राप्त होता है। अत निश्चय यह निकला कि आत्मा का लाभ अथवा अध्यात्म साधना न तो कभी बौद्धिक धरातल पर सभव हुई है और न भविष्य म हो सकेगी। और यही कारण है कि पाश्चात्य विचारकों की बौद्धिक उड़ाने बहुत ऊची होने पर भी अह निरसन की दिशा म कुछ भी नहीं कर पाई हैं। इसीलिये वहा के बड से बड दार्शनिक का जीवन अह की चौहद्दी से पूणतया घिरा रहा है। अत सन्तो की साधना के विषय में कोई भी निणय देने के प्रथम यह आवश्यक है कि साधना द्वारा अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर लिया जाय। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो उन निरूपणो का अर्थों के इति निरूपण से अधिक महत्व न होगा।

सन्तो की 'सुरति तथा निरति के विषय म अभी तक जितने मत मैंने देखे हैं उनकी तालिका निम्नलिखित है --

सुरति --

१ स्मर, आशा और भया ही क्रमश सन्तो की सुरति विरह और निरति हैं।

२ सुरति--स्मृति।

३ सुरति--स्वरति।

४ सुरति--सुष्ठु रति।

५ सुरति--श्रुति।

६ सुरति--प्रेम।

७ अतमु खी--वृत्ति।

८ सुरति--तान।

९ सुरति--योगी की असाधारण दृष्टि क्षमता को कहते हैं। जिसके द्वारा वह अपार्थिव जगत के आश्चय मय दृश्य और शब्दों की साक्षात अनुभूति प्राप्त करता है। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, सत कवि दरिया एक अनुशीलन पष्ठ १ ६

निरति –

१ नृत्य।
२ निष्ठ रति।
३ वैराग्य।
४ बहिर्मु खी वृत्ति।
५ लय।
६ निरति सुरति से भिन्न निर्विकल्प ध्यान की अवस्था है जिसम दरयावली नई नही प्रकट होती। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी सन्त कवि दरिया एक अनुशीलन पृष्ठ १०६। सुरति' तथा 'निरति के विषय म उपयु क्त तालिका के उद्धरणो द्वारा मुख्य किसी भी मत का खडन मण्डन अभीष्ट नही है। और न उसके लिए इस लघु निबन्ध म अव काश ही है। मुख्य तो उपयु क्त उद्धरणो द्वारा केवल यही दिखलाना है कि अपने निष्कर्षों म कि दो भी दो विद्वानों क मता म साम्य नहा है। और इसी स यह सिद्ध होता है कि उनका उपपत्तिया बुद्धि-प्रसूत है। किन्तु स तो की मान्यताओ मे कहा भी भेद दृष्टि गोचर नही होता है। गुरु की महिमा का ही ल लीजिए, 'कबीर से लेकर आज तक सभी सन्त एक स्वर स स्वीकार करते आ रहे हैं। एतदविषयक उनके कुछ उद्धरण मैं नीचे देता हू —

१ गुरू गोविन्द दोना खडे काके लागू पाय।
बलिहारी वा गुरू की जिहि गोविन्द दियो मिलाय।
२ बिन सदगुरु काउ भद न पावा,
धरती से आकास लौ धावा। बजहुन
३ दादू काढ काल मुख अधे लाचन दोऊ
दादू ए सा गुरू मिल्या जीव ब्रह्म करि लेय। दादू
४ सतगुरु आदि अनादि हैं, सतगुरु मध और मूल
सतगुरू को सिजदा करू, एक पलक नहि भूल। गरीब दास

उपर्युक्त उद्धरणों में जहाँ सभी संतों ने गुरू की महत्ता पर अपनी श्रद्धा तथा प्रगति अर्पित की है वहाँ व्यंजना द्वारा यह भी बतला दिया है कि बिना गुरू की कृपा से साधना में सिद्धि नहीं प्राप्त की जा सकती। अथात सन्त मत साधना की पीठिका पर अधिष्ठित है। बुद्धि के वत्त में इसकी अनन्तता का नहीं धरा जा सकता।

गुरू की महिमा की स्वीकृति के अतिरिक्त वे इड़ा, पिंगला सुषमा, शब्द बकनाल, अनहद ररकार षमल तथा चक्र आदि शब्दों का प्रयोग भी एक ही अर्थ में करते आए हैं। किन्तु उपर्युक्त परिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त सभी सन्तों में पच्छिम द्वारा' या पश्चिम द्वार शब्द का प्रयोग भी समान रूप से प्राप्त होता है। इस शब्द की ओर मेरा ध्यान आकस्मिक रूप से कल्याण के साधनाक में डा० सम्पूर्णानन्द के निबन्ध सन्त मत में साधना को पढ़ने समय आकृष्ट हुआ। श्री सम्पूर्णानन्द द्वारा उद्धृत पदों के अतिरिक्त मुझे कबीर में भी यह शब्द पूर्व अर्थ में ही प्रयुक्त मिला। आलोचकों तथा अनुशीलकों ने या तो इस शब्द को समझने का प्रयत्न ही नहीं किया, और जिन लोगों ने इसका अर्थ करने की चेष्टा भी की है तो उनकी व्याख्या अन्य परिभाषिक शब्दों की व्याख्याओं के समान ही संदिग्ध है। डा० सम्पूर्णानन्द द्वारा उद्धृत पद एक श्री गरीब दास जी का है और दूसरा उनके दादा गुरू बाबा रामलाल जी का। श्री गरीब दास जी का पद अधिक बड़ा है इसलिए मैं उसकी केवल वे ही पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ जो मेरे प्रमाण के सन्दर्भ में हैं और श्री बाबा रामलाल जी का सम्पूर्ण पद।

१ दक्खिन देश में दीपक जोहू, उत्तर घरू धियाना।
पच्छिम देश में देवल हमरा पूरब पथ पयाना॥
पिण्ड ब्रह्माण्ड दोउ से न्यारा, अगम ग्यान गोहराऊ
दास गरीब अगम गति आव सिन्ध मिन्ध मिलाऊ,
--महात्मा गरीब दास

२ मूल मत्र करि जप बिचारी । षट चक्रहि नव सोधहि नारी ।
सोधि क मेरु दण्ड ठहराना । सहज मिलाय प्रान अपाना ।
बक नाल गहै मन मूना । त्रिकुट अष्ट कमल दल फूला ।
पच्छिम दीसा लागि किवारी । सत कुञ्जी सन लेहु उघारी ।

बाबा रामलाल दास

३ उपयुक्त दोनो पदो क अतिरिक्त कबीर ने भी 'पश्चिम द्वार' की महत्ता की ओर रहस्यात्मक सकेत किया है । उनका पद इस प्रकार है ।

शिव की पुरी बस बुधि सारू ।
तह तुम मिलि क करहु बिचारू ।
इति ऊन की सोझी पर ।
कउन करम मेरा करि करि मर ।
निज पद ऊपरि लागो धिआनु ।
राजा राम नामु मोरा ब्रह्म गिआनु ।
मूल दुआर बधिया बन्धु ।
रवि ऊपर गहि रखिया चदु ।
पछिम दुआरे की सिल ओड ।
तिहि सिल ऊपर खिडकी अउर ।
खिडकी ऊपर दसवा दुआरू ।
कहि कबीर ताका अन्त न पारू । कबीर

उपयुक्त तीनों पदों के उद्धरण साधना-परक हैं । निश्चय ही इनमे साहित्यिक सौन्दर्य का अन्वेषण करने स घोर निराशा होगी । और अपनी इस अध्यात्म परता के कारण ये अथवा इसी प्रकार की सन्तों की रचनाए, केवल साहित्यिक की बुद्धि वृत्त के अन्तर्गत नहीं

समा सकती। और इसीलिए केवल साहित्य के विद्यार्थी को अपनी सीमाओं का ध्यान रख कर ऐसी रचनाओं के विषय में अपना मत निर्धारित करना चाहिए। नहीं तो वह सत्य के उद्घाटन में तो सर्वथा असमर्थ रहेगा ही उल्टे एक ऐसे भ्रामक शब्द जाल की सृष्टि कर डालेगा जो न केवल निरर्थक होगी, वरन सत्य के साक्षात्कार करने वाले के मार्ग में एक बाधा भी उपस्थित करेगी।

सन्तों के इस पश्चिम द्वार से इनकी 'सुरति शब्द के अजपा' की साधना से घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है। उपर्युक्त तीनों उद्धरणों में इसकी महत्ता स्वीकार की गई है। कबीर तथा बाबा रामलाल जी ने तो इसके ऊपर विशेष प्रकाश दिया है। बाबा रामलाल जी ने 'पश्चिम दीसा लागि किवारी। सत गुरु सी सन लेहु उघारी' कह कर मानो सन्तों की साधना को नितान्त स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। 'पश्चिम द्वार के किवाड़ की स्थिति का शरीर में पता लगाने के पहले, हम शरीर की दिशा को समझना होगा। शरीर में दिशाओं की अवस्थिति सन्तों ने किस प्रकार मानी है इसका ठीक ठीक ज्ञान अटकल के आधार पर नहीं हो सकता। जिस प्रकार उनका सम्पूर्ण साधना मार्ग गुप्त रखा गया है। उसी प्रकार उनकी शिक्षाओं की कल्पना भी अत्यन्त रहस्यात्मक प्रतीत होती है। सन्तों ने अपनी साधना के विषय में प्रायः संकेतों में बात की है। उनके कुछ गुप्त प्रतीक हैं जिन्हें वे सार्वजनिक रूप मे नहीं देना चाहते थे। उन प्रतीकों अथवा संकेतों की व्याप्ति केवल उनके अधिकारी शिष्यों तक ही परिमित है वही उसे समझ सकते थे। उन्हीं को समझना सन्तों को अभीष्ट भी था। सार्वजनिक बना कर वे अपने योग मत की कदमता नहीं करना चाहते थे। वे इसे भली भाँति जानते थे कि योग साधना के वास्तविक जिज्ञासु कोई विरले ही होते हैं। इसलिए वे सोने की कुदाल को घूरे पर नहीं चलाना चाहते थे। अस्तु प्रतीकों की इस रहस्यमयी भाषा को समझने के लिए किसी सिद्ध सन्त की शरण लेनी

पड़गी। उससे यह भेद जान लेने पर ही इन रहस्य मय प्रतीकों के विषय म कुछ अधिकार-पूर्ण लिखा जा सकता है।

इस "पच्छिम द्वार" के द्वारा एक और महत्व पूर्ण बात पर प्रकाश पड़ता है। कबीर तथा अन्य सन्त कवियों की साधना के विषय म प्राय विद्वानों ने यह कहा है कि वे हठयोग करते थे। सन्तों के आलोचकों को यह भ्रम उनके द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों इडा, पिंगला कुण्डलिनी चक्रों तथा क्रमनो के कारण हुआ है। किन्तु "पच्छिम द्वार" का 'सत कुन्जी' से उद्धरण यह सिद्ध करता है कि "घरण्ड संहिता" तथा 'हठ योग प्रदीपिका' म वर्णित 'हठयोग की प्रणाली से "सुरति शब्द के योग की साधना सर्वथा भिन्न है। आसन तथा प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी उद्बोधन तथा षट चक्र भेदन का जो हठ योग का मार्ग है उससे इस विहंगम मार्ग का कोई सम्बन्ध नहीं।

अन्त म सन्तों के आलोचकों तथा अनुशीलकों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे उपर्युक्त दृष्टिकोण के द्वारा भी सन्त साहित्य को देखने की चेष्टा करें। मेरा यह दृढ विश्वास है कि नादानुसंधान का यह मार्ग अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी कभी सर्वजनीन बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। और इसीलिए अन्य विधानों के समान इसकी स्पष्ट तथा व्यवस्थित प्रक्रिया नहीं मिल सकती। अतएव हम बाह्य साक्षियों को छोड़कर सन्तों के मत के लिए सन्तों की ही गवाही लेनी पड़गी। उन्हीं से पूछ ताछ करनी पड़गी। ऐसा न करने से हम चिर काल तक उनके मत का अनर्थ तथा उनके साथ अक्षम्य अन्याय करते चले जायेंगे।



सन्त मत में सुरति, निरति और सहज समाधि की मान्यता

सन्त मत के शोधकों ने सन्तों द्वारा प्रयुक्त अन्य पारिभाषिक शब्दों (इड़ा, पिंगला सुषम्ना कुण्डलिनी आदि) की विस्तृत व्याख्यायें की हैं। किन्तु वे उनके सुरति, निरति और सहज समाधि पर सम्यक प्रकाश नहीं डाल सके। इसका प्रमुख कारण कदाचित यह रहा है कि उनकी ये उपपत्तियां उनकी (सन्तों का) साधना पद्धति की जानकारी न होने के कारण बौद्धिक ही रही हैं और इसी कारण वे इन शब्दों के लिए कोई तथ्य पूर्ण बात नहीं कह सके। हमारा इन शब्दों के विषय में यह मत है कि बिना इनके पूर्ण ज्ञान के कोई भी सन्त मत के साथ न्याय नहीं कर सकता। सन्तों के ये शब्द उनकी साधना के मेरु दण्ड हैं। हम यहां पर इन शब्दों की व्याख्या क्रमश उपस्थित कर रहे हैं।

सुरति

सन्त काव्य में सुरति शब्द का प्रयोग जितनी बहुलता और विभिन्नता से हुआ है। उतना कदाचित ही किसी अन्य शब्द का हुआ होगा। किन्तु हम तो इस विभिन्नता में भी एक मौलिक एकता प्राप्त होती है। सन्तों के आलोचकों ने इस शब्द की अनेक विधि व्याख्यायें और व्युत्पत्तियाँ उपस्थित करके इस प्रसंग को अत्यधिक जटिल बना दिया है। इसका प्रमुख कारण जैसा कि हमने ऊपर कहा है उनकी बौद्धिक उपपत्ति रही है। 'सुरति' शब्द का जिन अर्थों में ग्रहण किया

जाता है, उनकी स्थूल तालिका इस प्रकार है।

(१) सुरति—स्मृति

(२) सुरति—प्रेम क्रीडा

(३) सुरति—श्रुति

(४) सुरति—चित्त प्रवाह (सुरति का उदभव स्रोत से होने के कारण)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सुरति शब्द का प्रयोग थोडा बहुत हेर फेर करके नाथों और सन्तों में इन्हीं अर्थों में प्राप्त होता है। किन्तु सन्तों के आलोचकों ने इस शब्द की व्याख्या के लिए, जितना प्रक्षप भाषा वैज्ञानिक और वैयाकरण व्याख्या पर दिया है उतना इसके भाव पर नहीं दिया। स्मृति और चित्त प्रवाह के रूप में मन की एक ही स्थिति का स्वरूप निश्चित होता है। सांसारिकता का मोह त्याग कर मन का परमात्मा से मिलने का रूपक सन्तों ने अनेक स्थानों में रखा है। मन का सांसारिकता से मोह छोड कर परमात्मा में अनुरक्ति दिखलाना ही प्रेम क्रीडा है और वही सुरति योग है। सुरति का श्रुति के रूप में प्रयोग सुरति शब्दयोग के प्रसंग में रख कर देखने से स्पष्ट हो जाता है। अर्थात सुरति (स्मृति) का सदैव शब्द में लगा रहना 'सुरति शब्द योग' है। यहाँ शब्द के साथ सुरति का प्रयोग सुनने के ही अर्थ में हैं, क्योंकि शब्द सुना ही जाता है। मेरी उपर्युक्त व्याख्या केवल एक ही निष्कर्ष पर पहुँचती है कि सन्तों ने इस शब्द का प्रयोग केवल एक ही मन्तव्य के लिए—अपने मन को सांसारिकता से विमुख करके आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने के लिए किया है। हमने अन्यत्र कहा है कि सन्तों की उलट धार सुरति शब्द योग की पर्याय है। हमारा मन प्रवाह अपने स्वाभाविक रूप में सांसारिकता की ओर विशेष रूप से अनुरक्ति दिखलाता है। इसका प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि हमारी विषय प्राहिणी सभी

इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं। अतः इस बहिर्मुखी चित्त-प्रवाह को शब्द के साथ नियोजित करके अन्तर्मुखी बनाना सुरति शब्द योग है। शब्द के प्रति सदैव सुरति (ख्याल स्मृति) बने रहने के कारण ही हम इसे स्मृति शब्द-योग भी कह सकते हैं।

सुरति शब्द योग अथवा नादानुसंधान के योग की परम्परा सिद्धों नाथों से भी अधिक प्राचीन है। खोजने से तो इसके स्वरूप का यत्किंचित बोध वेदों में भी प्राप्त हो सकता है। किन्तु उपनिषद काल से तो इसका इतिहास किसी न किसी रूप में क्रमबद्ध प्राप्त होता ही है। नाद बिन्दु उपनिषद के अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद में भी इस योग की प्रणाली का उल्लेख मिलता है। वह श्लोक इस प्रकार है ---

'तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलतउपशृणोति। (छान्दोग्य ३।१३।८) अर्थात (योग साधना की अवस्था में) कर्मेन्द्रिय के विरुद्ध होने पर योगी को बादल की गर्जन की भाँति, वृषभ के नाद की भाँति जलती हुई अग्नि की सरसराहट जो कुछ सुनाई पड़ता है वह उस ब्रह्म की अनाहद ध्वनि है।

सिद्धों ने इस शब्द का प्रयोग यद्यपि प्रेमक्रीड़ा के रूप में किया है किन्तु फिर भी जैसा कि हमने ऊपर कहा है इसकी व्याख्या आत्मा परमात्मा के मिलन के रूप में ही लेनी चाहिये। सिद्धों ने अपने योग की परम्परा को गुप्त रखने के लिए ही इस प्रकार के मधुर सांसारिक आच्छादन से उसे आच्छादित किया था। सिद्ध सरहपा इसे कमल-कुलिश योग की संज्ञा देते हुए इस प्रकार स्वीकार करते हैं।

कमल कुलिश वविमज्झ ठिउ जो सो सुरअ विलास।
कोतर मह वहि तिन्हसे हिवस्ण पूरइ आस।

सिद्धों के अतिरिक्त नाथ सम्प्रदाय में तो इस योग की प्रणाली का नाम 'शब्द सुरति योग' अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। अमरौघ शासन में इस प्रणाली को सहज समाधि प्राप्त करने वाले मार्ग के रूप में स्वीकार किया गया है और जिसमें शब्द की साधना पर अधिक बल

कि मीन मार्ग द्वारा आ याम की चरम उपलब्धि सम्भव नहीं है। इस मार्ग म कुछ समय के लिए मनोलय ता सम्भव है किन्तु शाश्वत मनोलय तभी सम्भव है जब वासनाओं का अह का पूर्ण निरसन हो जाय। इसीलिए साधको का क्षेत्र म उनका सतत प्रयास जारी रहा है और उन्होंने विहगम मार्ग म अह के पूर्ण निरसन द्वारा आत्म तोष प्राप्त किया।

विहगम मार्ग के लिये दोहे म कवल इतना ही साकेतिक उल्लेख प्राप्त होता है कि "सुरति जाप विहग है। जानन परम प्रवीन अर्थात 'सुरति शब्द' के माध्यम स जप की प्रक्रिया को विहगम कहते हैं, इसे केवल 'परम प्रवीन ही जानते है। इस प्रक्रिया के जप को पारिभाषिक शब्दो तक ही सीमित रखा है। उसके रहस्य को उदघाटित नही किया। वस तो प्राय प्रत्यक कला तथा विज्ञान के लिए अधिकारी व्यक्ति की ही आवश्यकता होती है किन्तु आध्यात्म मार्ग म अधिकारी की छानबीन का सवाधिक आग्रह है। आजकल आध्यात्मिक क्षत्र म एक नारा अपने पूर्ण प्रवेग के साथ घुस आया है वह नारा है मिशनरी स्पिरिट अर्थात ससार की कोइ भी वस्तु गोपनीय न रहनी चाहिए। उस सब सुबोध बनाना चाहिए और जो ऐसा नही करते उन्हें रूढिवादी आदि विशेषणो से अलकृत किया जाता है। इस विचार धारा को प्रभावित करने के लिए अनक मिशनरियो की स्थापना की गई है। इन मिशनो द्वारा आध्यात्मिक प्रचार तो नही स्वविज्ञापन अपनी चरमावस्था पर पहुँच गया है। अस्तु आध्यात्मिक प्रक्रियाओ को गोपनीय रखने क लिए मूल म ऋषियो का एक गहरा उद्देश्य रहा है और वह उद्देश्य यह कि कहीं अनधिकारी के हाथ म पडकर समाज म इसका दुरुपयोग न हो। कही सिद्धियो के चमत्कारो के प्रदर्शनो द्वारा आध्यात्म की गलत मा यता न हो जाय। और ऐसा हुआ भी जिसका प्रभाव आजकल भी कम नहीं है। साधारण जनो की तो बात ही छोडिय सुधी जन भी चमत्कार को ही आध्यात्म मानने लगे हैं

और नम कारी व्यक्ति को ही पहु ना हुआ अथवा सिद्ध कहते हैं। मेरे उपयु क्त कथन का मात्र प्रयोजन यह है कि प्राचीन ऋषि उपयु क्त कारणों से साधना प्रक्रिया को सार्वजनिक बनाना नहीं चाहते थे। वे जिज्ञासु के समक्ष उसकी पूर्ण परीक्षा के पश्चात ही साधना रहस्य का उदघाटन करते थे। और इसी कारण आज तक योग सिखाने की संस्थाओं का नाम तक नहीं सुना गया। अस्तु उपयु क्त शाहे में भी विहंगम मार्ग की प्रक्रिया का उदघाटन न करके पारिभाषिक शब्दों के द्वारा सकेत मात्र करने में प्राचीन प्रणाली का अनुसरण किया गया है।

जसा कि ऊपर कहा गया है आध्यात्मिक साधना की उपलब्धि मनोलय द्वारा 'अह' का पूर्ण निरसन है। पिपीलिका मीन और विहंगम मार्ग की आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा इसी अह को निर्मूल करने का यत्न किया जाता है किन्तु जसा कि ऊपर कहा गया है कि पिपीलिका और मीन मार्ग के द्वारा अह का पूर्ण निरसन प्राय सन्दिग्ध है। क्योंकि ये मार्ग बाह्य उपकरणों की सहायता में विश्वास करते हैं। इनका पूर्ण 'अहकार (Attachment) अभी नहीं छूटा है। इन्हें अपने अस्तित्व का भी ज्ञान है और दूसरे की स्थिति भी स्वीकार करते हैं और निश्चय ही इस ढंग से उनके मन की वृत्ति का पूर्ण निग्रह असम्भव ही प्रतीत होता है। जब तक मन की वृत्ति पूर्ण तथा निर्विकल्प नहीं हो जाती तब तक पूर्ण मनोलय हो ही कैसे सकती है? इसलिये मन को मैचल करने के लिये उसे निर्विकल्प साधना मार्ग में नियोजित करना होगा। उसे निराश्रित तथा निरावलम्ब करना होगा क्योंकि सर्वाधार निराधार है, अतएव उसकी प्राप्ति के लिये भी किसी प्रकार के विकल्प अथवा विग्रह को नहीं स्वीकार किया जा सकता। सु नि श्चय के मार्ग के आविष्कार तथा प्रतिष्ठा में आध्यात्म मार्ग की चरम प्राप्ति का रूप घोर निनादित हुआ है। परन्तु इसके पूर्व कि मैं इस प्रक्रिया पर प्रकाश डालूं यह आवश्यक प्रतीत होता है कि आत्मा रूप

के कुछ अन्य प्रकारों पर भी विचार कर लिया जाय। क्योंकि 'अजपा जप' के प्रकारों के अन्तर्गत साधना की सभी सूक्ष्म प्रक्रियायें गृहीत होती हैं। मैंने ऊपर कहा है कि पिपीलिका मार्ग अथवा स्थूल उपकरणों के माध्यम से मन के संयम के अतिरिक्त जितनी सूक्ष्म प्रक्रियायें हैं वे सभी अजपा के अन्तर्गत स्वीकार की जानी चाहिए। सभी प्रकार के मानसी जप अथवा साधनायें 'अजपा जप के अन्तर्गत आती हैं। अजपा जप में हाथ और जिह्वा का बिल्कुल प्रयोग नहीं होता। और मानसी जपों की भी यही परिभाषा है। इस प्रकार के जप अनेक हैं। उदाहरणार्थ श्वास से जप, चक्रों का ध्यान, नाटक आदि रखे जाते हैं। इसी अनुक्रम में कबीर आदि सन्त कवियों द्वारा प्रतिष्ठित 'सुरति शब्द' का अजपा भी आता है।

१९५८ ई० के अगस्त के समालोचक में श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का एक निबन्ध नवीन उपनिषद और सन्त वैष्णव मत शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। उसमें अजपाजप के स्वरूप का उल्लेख करता हुआ विद्वान लेखक कहता है कि, ध्यान बिन्दु उपनिषद में अजपाजप का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है —

'हकारेण बहिर्याति, सकारेण विशत्पुनः
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा'

उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुये लेखक अगली पंक्तियों में कहता है कि जीव प्रत्येक क्षण हंस 'हंस (मैं वह हूं) यह जप करता रहता है। प्रत्येक श्वास प्रश्वास में यही ध्वनि निकलती रहे यही अजपा जप है। स कहने से श्वास का प्रवेश हो व ह कहने से श्वास बाहर जाय बस यही अजपाजप है। ...और इसी अजपा के जपी थे। कुछ विद्वान लेखक की उपर्युक्त स्थापना से किञ्चित विरोध है अर्थात जहाँ वह कहते हैं कि यह भी अजपा जप है वहां

मरा विनम्र सशाधर है कि यह भा अजपाजप है। कि तु कबीर इस अजपा जप के असदिग्ध रूप स 'जपी नहीं थे।

उपयुक्त अजपा जप की प्रक्रियाओं को मौन मार्ग तंगत लिया गया है जसा कि मरे द्वारा उदधत दोह से स्पष्ट है। मौन माग को स्पष्ट करते समय इस प्रक्रिया पर प्रकाश डाला जा चुका है।

जसा कि ऊपर कहा जा चुका है सतमत म विहगम माग को ही प्रतिष्ठा मिली थी। कबीर न स्वय ही अपने साधना मार्ग का उल्लख करते हुए कहा है —

जपा मर अजपा मरै अनहद हू मरिजाय।
सुरति समानी शब्द में ताहि काल नहिं खाय॥

उपयुक्त दोह स स्पष्ट है कि व अजपा की अन्य प्रक्रियाओं को मुक्ति का साधन नहीं मानत। उनकी आस्था केवल सुरति शब्द क अजपा म ही है। अस्तु कबीर का साधन मार्ग ध्यान बिन्दु उपनिषद म उल्लिखित अजपाजप से पूर्णतया पृथक है।

सन्तो न अपने साधना माग को विहगम मार्ग कहा है। जिस प्रकार पक्षी आकाश म निराधार उड़ता है उसी प्रकार लक्ष्य को उद्दिष्ट करके सुरति रूपी पक्षी भी बिना किसी विग्रह अथवा विकल्प के निराधार उड़ता है। इसीलिय इस योग की चरमउपलब्धि समाधि का निर्विकल्प कहा है। शब्द म सुरति की सार्वकालिक निरति को कबीर आदि सन्तो न सहज समाधि के नाम स अभिहित किया है। किसी भी स्थूल नाम अथवा विग्रह को साधना का माध्यम बना कर निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती और न ऊपर उल्लिखित सत्य अथवा ईश्वर क भवाधार स्वरूप का अनुभव किया जा सकता है जिसकी अवस्थिति निराधार मानी गई है।

सन्तों की सुरति शब्द साधना की साधना प्रक्रिया म सहात्म्य

गान से तृप्ति नहीं होती। वे उस गम्भीर कंठ से अनेक बार स्वीकार करते हैं। नीचे की पंक्तियों में उसके नाम के प्रति इन महिम उद्गारों का यत्किंचित वर्णन किया जा रहा है। शब्द बाण से आहत महात्मा केशवदास जी अपने 'अमिय घूंट' में उसकी महत्ता स्वीकार करते हुए कहते हैं।

छन्द-निरखि आवु अथान तहां सकल सुख रस सानिय।
पियहि अमत सुरति भरकरि संत बिरला जानिय।
कोटि विष्नु अनंत ब्रह्मा सदा सिव नहिं ध्यावहीं।
सोइ मिलउ सहज सरूप 'केसो' अनंद मंगल गावहीं।

(अमीघूंट पृ० ३)

अथवा

सुरति समानी ब्रह्म में, दुविधा रह्यो न काय
केशव सम्भलि सत में परसो सम्भलि होय
सात दीप नव खण्ड के उपर अगम अवास
शब्द गुरु केशव भजो जो जन पावे वास
ऐसा संत कोइ जानिहैं सत्त शब्द सुनि लेह
केशव हरि सों मिलि रहो न्योछावरि करि देह

(केशवदास जी की अमीघूंट साखी पृष्ठ ११)

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

उपर्युक्त उद्धरणों में महात्मा केशवदास ने सुरति शब्द के प्रति जो दृढ़ आस्था प्रकट की है उसका पुनरावर्तन की आवश्यकता नहीं। निस्सन्देह उनकी यह आस्था कोरी कल्पना मात्र ही नहीं है वरन इसकी पृष्ठभूमि में साधना के अनुभव के ठोस निष्कर्ष भी सम्मिलित हैं निश्चय ही इन महात्मा ने साधना की अन्य पद्धतियों का त्याग करने के पश्चात ही सुरति शब्द की साधना को मूल में ग्रहण की

साहस किया होगा ।

महात्मा केशवदास १ अतिरिक्त अ य सन्तो ने भी स साधना माग की सर्वोपरि महत्ता मुक्तक ठ से स्वीकार की है । स स्थल पर दो एक के उदाहरण दे देना अप्रासंगिक न होगा । महात्मा कबीरदास 'नाम अथवा श ' रूपी घू टी पीकर पागल हो गए हैं । निम्नलिखित पद में उनकी उन्ही के मुख से सुनिए —

गुरू मोहि घु टिया अजर पियाई । टेक
जब से गु मोहि घु टिया पियाई, भई सुचित मेरी दुचिताई
नाम औषधि अधर कटोरी पियत अघाय कुमति गई मोरी
ब्रह्मा विष्नु पिये नहि पाये, खोजत सम्भू न म गवाय
सुरत निरत कर पिये जो कोई कह कबीर अमर होय सोई

अर्थात गुरु ने मुझ अजर घ टी पिला दी है । जब से उन्होने मुझे यह घ टी पिलायी है मन ने अपने सकल्प विकल्प का छोड दिया है और उसकी द्विविधा मिट गई है । मैंने अधर रूपी कटोरी से नाम रूपी औषधि का पान कर लिया है और उसका तृप्ति भर पीने के पश्चात मेरा कुमति चली गई है । आगे की पक्तियों में कवि उस नाम की दुर्लभता का वर्णन करते हुए कहता है उस नाम रूपी घू टी की खोज में ब्रह्मा विष्णु और महेश न अनेक ज म व्यतीत कर दिये हैं । कि तु फिर भी प्राप्त नही कर सके । अ तिम पक्ति में कबीर ने उसके प्राप्त करने के रहस्य का उदघाटन करते हुये कहा है कि, सुरति निरतर नृत्य म निरत करके अर्थात सुरति का निरतर शब्द के साथ नियोजित करके जो उस नाम रूपी घू टी का पान करेगा, वह अमरत्व को प्राप्त करेगा अर्थात वह आवागमन के चक्कर से मुक्ति पा जायेगा ।

सन्तमत की सधना में प्रतिष्ठित यह 'श ' साधारण महत्व का

नहीं है। वरन् वे इस सृष्टि के उद्भव से लेकर विनाश तक समग्र कार्य, व्यापार का प्राण मानते हैं। इस सन्दर्भ में कबीर का निम्न लिखित पद उल्लेखनीय है —

साधो सब्द साधना कीजै।
जेहि सब्द ते प्रगट भये सब सोई सब्द गहि लीजै। टेक ।।
सब्दहि गुरु सब्द सुनि सिष भये सब्द सो बिरला बूझै।
सोई सिष्य सोइ गुरु महातम, जेहि अंतरगति सूझै ।।१।।
सबद वेद पुरान कहत है, सब्द सब ठहराबे।
सब्द सुर मुनि संत कहत हैं, सब्द भेद नहिं पावै ।।२।।
सब्द सुनि सुनि भेष धरत हैं, सब्द कहै अनुरागी।
षट दरसन सब सब्द कहत हैं सब्द कहै बैरागी ।। ३ ।।
सब्द माया जग उतपानी सब्द केर पसारा।
कहै कबीर जहं सब्द होत है, तौन भेद है न्यारा ।।४।।

(कबीर साहब की शब्दावली, पृष्ठ ४ शब्द ७)

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

कबीरदास के उपर्युक्त 'शब्द' में शब्द की महनीयता का मार्मिक उपस्थित किया गया है। उनकी मान्यता के अनुसार सृष्टि का कोई भी कार्य बिना शब्द के नहीं हो सकता। शब्द का ताना बाना सृष्टि के चारों खूँटों का कार्य हुए है किन्तु अंतिम पंक्ति में कबीरदास जी एक विचित्र बात की ओर संकेत करते हैं। वे कहते हैं कि जिस स्थान से स्थूल शब्द का स्फुरण होता है उसका भेद बिल्कुल न्यारा है। निश्चय ही उनका संकेत 'सुरति शब्द' की साधना की ओर है जिसकी साधना प्रक्रिया सदा से ही गुप्त चली आई है। कबीर द्वारा प्रयुक्त 'भेद' शब्द इसी ओर इंगित करता।

सुरति शब्द के आपा के विषय में पलटू साहिब की बानी से एक कुंडलिया उद्धत करके इस प्रसंग का समापन किया जा रहा है —

खेलु सितावी फाग तू बीती जात बहार ।।
बीती जात बहार सबत लगन पर आया ।
खोज दुपक बनाय सुभग मानुष तन पाया ।।
खेलो घूंघट खालि लाज फागुन में नाहीं ।
नाइ के उ करिहै लाज काज ना सपनेउ माही ।।
प्रेम की माट भराय सूरति की कस पिचकारी ।
ज्ञान अबीर बनाय नाम की दीज गारी ।।
पलटू रहना है नहीं सुपना यह ससार ।
खेलु सितावी फाग तू बीती जात बहार ।।

जहाँ प्रतीक और रूपक योजना का उपयुक्त कुडलिया में सगुंफित रूप उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि करता है, वहाँ सुरति शब्द (नाम) की प्रतिष्ठा करने में भी अनुपम है। सुरति शब्द की साधना सम्बन्धी इतनी विवेचना पर्याप्त है।

दो शब्द इस साधना की उपलब्धि के महत्व पर कह कर इस निबंध को समाप्त किया जा रहा है। प्राय सन्तों के आलोचकों ने सुरति शब्द की साधना को निर्गुण या निर्गुणिये सन्तों की साधना कहा है। उनके इस कथन से जहाँ सन्तों के ऊपर नीरसता का आरोप होता है वहाँ इस साधना पद्धति पर नीरसता का लांछन भी लगता है। इसके उत्तर में मुझे मात्र इतना ही कहना है कि इस प्रणाली के विरक्त सन्त भी (क्योंकि इस मार्ग के अनुयायियों में गृहस्थों की संख्या विरक्तों से अधिक है) कभी घर द्वार छोड़कर विरक्त होने के लिए किसी से नहीं कहते। और उन्हें सर्वथा निर्गुण मतावलम्बी भी कहना औचित्य की मर्यादा का उल्लंघन करना है। वास्तव में इस साधना पद्धति में भक्ति और ज्ञान अथवा भावना तथा बुद्धि का चरम

समन्वय प्राप्त होता है। नीचे के उद्धरणों में मेरे कथन की पुष्टि हो जायगी। भक्त सहजोबाई श्री चरणदास की शिष्या थीं। महात्मा चरणदास को हिन्दी आलोचकों ने निर्गुणिया सन्त माना है। भक्त 'सहजोबाई की बानी' में 'निर्गुन सगुन संशय निवारण भक्ति का अंग' स्तम्भ में राम और कृष्ण के अवतार का स्वीकार करती सहजोबाई कहती हैं —

कहा कहूँ कहाँ कहि सकूँ, अचरज अगम अभेव।
सुन अचभो सा गया, सहजा ब्रह्म अलेव ॥
वही आप परगट भया, ईश्वर लीलाधार।
माहि अजु या और ब्रज, कौतुक किये अपार ॥

इतना ही नहीं—

चार बीस अवतार धरि जन की करी सहाय।
राम कृष्ण पूरन भये, महिमा कही न जाय ॥

(सहजोबाई की बानी पृ० ४०)
बेलवेडियर प्रेस इलाहाबाद

इसके अतिरिक्त साधना के प्रसंग में वे अन्य साक्षात्कार का स्वीकार करती हुई कहती हैं—

दो पग धंधा जगत का लागि रहै दिन रैन।
कुटुंब मोह दुख देत है कैसे पावै चैन ॥
कैसे पावै चैन बिना साधू की संगत।
दुनिया रंग पतंग मजीठा गुरु की रंगत ॥
जनम मरन तो सू छूटै सहजो दरस राम।
चौरासी के दुख मिटै पावै निजपुर धाम ॥

सहजो दरस राम के द्वारा सन्तों द्वारा प्रतिष्ठित झांकी की ओर स्पष्ट संकेत है। सहजो के अतिरिक्त भक्त मीराबाई' के पद तो सभी भक्तों, साहित्यकारों तथा संगीतज्ञों के कण्ठाभरण बने हुए हैं।

सुरति शब्द की साधना के विषय में 'पलटू साहिब की बानी' से एक कुंडलिया उद्धृत कर, इस प्रसंग को समाप्त किया जा रहा है –

सतगुरु सितावी फाग तू बीती जात बहार ॥
बीती जात बहार सरत लगन पर आया ।
लीजे दुफ्फ बजाय सुभग मानुस तन पाया ॥
खलो घूंघट खोलि लाज फागुन में नाहीं ।
जइ कोउ करिहै लाज काज ना सपनउ माहीं ॥
प्रेम की माट भराय सुरति की कस पिचकारी ।
ग्यान अबीर बनाय नाम की दीजे गारी ॥
पलटू रहना है नहीं सुपना यह ससार ।
सतगुरु सितारी फाग तू बीती जात बहार ॥

जहाँ प्रतीक और रूपक योजना की उपर्युक्त कुंडलिया में सगुम्फित रूप उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि करता है, वहाँ सुरति शब्द (नाम) की प्रतिष्ठा करने में भी अनुपम है। सुरति शब्द की साधना सम्बन्धी इतनी विवेचना पर्याप्त है।

दो शब्द इस साधना की उपादेयता के महत्व पर कह कर इस निबंध को समाप्त किया जा रहा है। प्राय सन्तों के आलोचकों ने सुरति शब्द की साधना को निर्गुण या निर्गुणिये सन्तों की साधना कहा है। उनके इस कथन से ज्ञात होता है कि सन्तों के ऊपर नीरसता का आरोप होता है, क्योंकि इस साधना पद्धति पर नीरसता का लाछन भी लगता है। इसके उत्तर में मुझे मात्र इतना ही कहना है कि इस प्रणाली के विरक्त सन्तों ने भी (क्योंकि इस मार्ग के अनुयायियों में गृहस्थों की संख्या विरक्तों से अधिक है) कभी घर द्वार छोड़कर विरक्त होने के लिए किसी से नहीं कहा। और उन्हें सर्वथा निर्गुण मतावलम्बी भी कहना औचित्य की मर्यादा का उल्लंघन करना है। वास्तव में इस साधना पद्धति में भक्ति और ज्ञान अथवा भावना तथा बुद्धि का चरम